घर, सफ़ाई और महिला
बरास्ते विज्ञापन

तूलिका

यह लेख विज्ञापनों में ज़ोर-शोर से पेश की जाने वाली भारतीय शहरी मध्यवर्गीय महिला की 'साफ़-सफ़ाई' के प्रति अतिशय चिंताकुल छवि की तहक़ीक़ात करता है। महिला पर हावी घर की सफ़ाई की चिंता सहज व्यवहार या महज बेहतर घर/ज़िंदगी की चिंता ही नहीं है, बल्कि जेण्डर श्रेणीक्रम और उसे मज़बूती देते एक ऐतिहासिक क्रम में उपजी और पनपी विचार-प्रक्रिया की देन भी है। इस 'चिंता' में उसकी ख़ुद को बनाए रखने की बेचैनी और समाज की तमाम संस्थाओं द्वारा उसके आकलन को ले कर भयंकर असुरक्षाबोध को महसूस किया जा सकता है। समाज/परिवार द्वारा प्रदत्त उसकी 'ख़ास जगह' और 'ख़ास ज़िम्मेदारियों' की अवधारणा इस भूमिका का प्रकट रूप है।

'महिला' और 'सफ़ाई' के संबंध को हम इन विज्ञापनों की दुनिया के मुताबिक़ मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं। पहली, महिला और उसके शरीर को लेकर सफ़ाई की अवधारणा। दूसरी, घर और परिवार की ज़िम्मेदारी के साथ-साथ उसके आधुनिक और सुसंस्कृत होने का बोझ और उससे निकला सफ़ाई का मूल्य व साथ ही इस रास्ते पारम्परिक भूमिका को चुनौती देने की चाह। इस लेख का केंद्र यही दूसरा आयाम है जिसके तहत हम उसकी सामाजिक भूमिका की व्याख्या करने की कोशिश करेंगे। महिला की शरीर-केंद्रित पवित्रता और गंदगी बहस का एक दूसरा आयाम है। इसमें उसका मासिक स्राव, उसके चेहरे और शरीर की साफ़-सफ़ाई के निहितार्थ जैसे मुद्दे आते हैं। उसकी यौनिकता को लेकर विमर्श और उसके प्रति संस्कृति व समाज के दृष्टिकोण के पहलू भी बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन फ़िलहाल इस लेख में हम इस पर विचार नहीं कर रहे हैं। इस चर्चा को हम यहाँ मूलत: 'आदर्श महिला' के मानक के बतौर उसके 'घर और परिवार की साफ़-सफ़ाई और परिजनों के स्वास्थ्य' के पहलू पर ही केंद्रित करेंगे।

आम तौर पर समाज और इसमें रहने वालों की 'विचारधाराएँ बहुत सतर्कता से समाज के प्रभुत्वशाली हिस्से द्वारा गढ़ी जाती हैं, और समय बीतने के साथ वह पूरे समाज का 'कॉमन सेंस' बन जाती हैं।'[1] घर के भीतर स्त्री की 'ज़िम्मेदारी' और तदनुसार उसकी 'हैसियत' की अवधारणा का विचार घर की संरचना का वही 'कॉमन सेंस' है। विचारधाराएँ किसी ख़ास समय में, किन्हीं ख़ास ढाँचों और किन्हीं ख़ास उद्देश्यों की सहूलियतों के मुताबिक़ आकार लेती हैं और साथ ही उनसे जुड़े नैतिक मूल्यों को भी निर्मित करती चलती हैं। इसलिए अकसर ही सांस्कृतिक जमीन पर इनकी भूमिका वर्चस्व की रहती है। जैसे घर, इसकी साफ़-सफ़ाई और इसमें रहने वाले सदस्यों के स्वास्थ्य की चिंता एक ऐसा विचार है जिसके इर्द-गिर्द 'आदर्श महिला' की मूल्य-निर्मिति और उसका मूल्यांकन होना बेहद सामान्य और सर्वस्वीकृत तथ्य बन चुका है।

घर नाम की इकाई के साथ महिला और पुरुष के रिश्ते में अंतर के संदर्भ में एक बेहद महत्त्वपूर्ण आयाम सिमोन द बोउवार ने अपनी मशहूर कृति *स्त्री उपेक्षिता* के 'विवाहिता' अध्याय में रेखांकित किया है। सिमोन अपने से पहले के दार्शनिक चिंतनों का हवाला देते हुए कहती हैं कि

> चूँकि पति एक उत्पादक श्रमिक है अत: वह परिवार की सीमा से परे समाज के अन्य सदस्यों के साथ एक सामूहिक भविष्य का निर्माण करता है। ... वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रत्येक मानवीय अस्तित्व में एक ही साथ और एक ही समय में अंतरवर्तिता और अनुभवातीतता बनी रहती है। प्रगति और सम्पोषण के ये दोनों तत्त्व किसी भी जैविक कार्य में निहित होते हैं किंतु जहाँ विवाह में पुरुष इन दोनों ही कार्यों का स्वस्थ संश्लेषण कर पाता है वहीं औरत केवल सम्पोषण की अंतरवर्तिता में ही सीमित रह जाती है। उसके पास कोई ऐसा काम नहीं है जो उसे वर्तमान का अतिक्रमण कर सर्वोपरिता की ओर बढ़ाने का अवसर दे ... पुरुष जब जगत की व्यापकता में थक जाता है तो लौट कर अपने घर आता है। ... आराम करता है जबकि उसकी पत्नी ... केवल स्थायीकरण में लगी रहती है। ... निरंतरता बनाए रखती है। औरत आज भी एक सच्ची गृहस्थी की चाह में अपनी इस अंतरस्थिति तथा अंतर्व्यापिता को मूल्य और अर्थ प्रदान करना चाहती है।[2]

दूसरी जगहों की ही तरह हमारे देश की भी अपनी ख़ास परिस्थितियों के नाते 'घर और महिला के संबंध' और 'आदर्श घरेलू महिला' होने के मूल्य हमेशा से एक जैसे नहीं रहे हैं। यह 'मानक' अपने होने की ज़रूरत को बरक़रार रखते हुए देश-काल-परिस्थितियों के मुताबिक़ आकार लेता रहा है, बदलता रहा है। इस तरह इन 'मानकों' को किसी ख़ास दौर के सामाजिक-समीकरण बनाए रखने के लिए की जा रही जुगतों का आईना कह सकते हैं। आज का हमारा भारतीय शहरी मध्यवर्ग जिन संस्थापनाओं के इर्द-गिर्द विकसित हुआ, वे अव्वल तो बहुत पुरानी नहीं हैं, दूसरे उन्होंने कुछ-कुछ बचाने और बहुत-कुछ पाने के द्वंद्व के इर्द-गिर्द आकार लिया है। इस तरह इस द्वंद्व के तहत जिन पाक और पवित्र चीज़ों को बचाना था, वे तथाकथित भारतीय या कहें पितृसत्ता के सामंती सांस्कृतिक मूल्य थे। जो पाना था, वह व्यावहारिक आधुनिक/नयी बदलती भौतिक दुनिया की हक़ीक़तें थी। यहाँ इन दोनों को एक साथ हासिल करने का एक टिकाऊ और कारगर उपाय निकला : घर और बाहर की दुनिया का स्पष्ट बँटवारा। परिवार नाम की इकाई के लिए ज़रूरी मूल्यों को सहेजने और उन्हें घर के भीतर निर्मित कर स्थायित्व देने की ज़िम्मेदारी आयी महिला पर और बाहरी दुनिया से लोहा लेने का मोर्चा आया पुरुष के ज़िम्मे। पार्थ चटर्जी के अनुसार :

> जहाँ काम और विकास की दुनिया बाहरी है, भौतिकता का परिक्षेत्र है, वहीं घर हमारा भीतरी आध्यात्मिक आत्म, हमारी सच्ची पहचान का प्रतिनिधित्व करता है। दुनिया भौतिक हितों की तलाश में अस्थिर होती है जहाँ व्यावहारिक का महत्त्व ही सर्वोपरि होता है। यह विशिष्ट रूप से पुरुषों का

[1] अंतोनियो ग्राम्शी (1971/1999) : 321-322.

[2] सिमोन द बोउवार (2002) : 196.

> परिक्षेत्र भी है। घर पर उसके मूलतत्त्व में दुनिया की सांसारिक गतिविधियों का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए— और महिला इसकी प्रतिनिधि है। इस तरह हम जेण्डर द्वारा सामाजिक भूमिकाओं में विविधताओं को देख पाते हैं जो कि सामाजिक स्पेस के घर-बाहर के बँटवारे के रूप में पहचाने जा सकते हैं।[3]

आज इस भीतरी दुनिया की हक़ीक़त एक सायास सामाजिक उद्यम है। इस दुनिया की पाकीज़गी बरक़रार रखने के मानक कम से कम पिछले सौ-डेढ़ सौ सालों से साफ़ तौर पर तय हो रहे हैं। हाँ, समय के साथ इन मानकों के पैमाने और कसौटियों में थोड़ी बहुत तब्दीली आती रहती है, पर मूल अंतरत्व में नहीं। घर के भीतर की दुनिया का ताल्लुक़ सच्चाई, ईमानदारी, सहयोग, आत्मीयता, प्यार, त्याग जैसे मूल्यों से तो रहा ही है, इसका एक जो अनिवार्य व्यावहारिक पहलू रहा है— वह है शुद्धता का, साफ़-सफ़ाई का। बाहर की भौतिक दुनिया तमाम क़िस्म के लोभ-लालच के कारण मैली है, जबकि घर के भीतर आपसी प्रेम और सौहार्द के कारण यह मैलापन साफ़ हो जाता है। ठीक इसी तरह तमाम तरह के भौतिक लोभ के कारण बाहरी दुनिया की हवा-पानी-मिट्टी में तमाम तरह के प्रदूषण हैं जो घर से बाहर गये इंसान के स्वास्थ्य को खराब कर सकते हैं। घर के भीतर की दुनिया में ठोस गंदगी से निपटने के लिए प्रेम और सौहार्द जैसे कुछ औज़ारों और हथियारों की मदद की ज़रूरत होती है। घर के भीतर की इस दुनिया की प्रतिनिधि महिला की प्राथमिक ज़िम्मेदारी है— घर और घर वालों की सफ़ाई की चिंता, उन्हें रोगमुक्त रखने की चिंता।

अगर इस 'ज़िम्मेदारी' को ऐतिहासिक रूप से देखें तो मध्यवर्गीय महिला की शिक्षा को इस वास्ते बड़ा हथियार बनाया गया है। उन्नीसवीं सदी के सुधार आंदोलन के दौरान राष्ट्रीयता और स्त्री संबंधी सवालों पर बात करते हुए पार्थ चटर्जी लिखते हैं :

> 'उस समय शिक्षा महिलाओं में योग्यता पैदा करने के लिए ही थी— 'क़ायदे' के नये सामाजिक पहलुओं की ख़ासियतें जो कि विशिष्ट तौर पर 'बुर्ज्वा' ख़ासियतें थीं— सुव्यवस्था, क़िफ़ायत, साफ़-सफ़ाई और निजी तौर पर ज़िम्मेदारी का एहसास, साक्षरता के व्यावहारिक गुण, हिसाब-किताब व स्वच्छता और बाहरी दुनिया द्वारा स्थापित भौतिक और आर्थिक स्थितियों के मुताबिक़ घर चलाने की क्षमता। इसके लिए उसे कुछ हद तक बाहरी दुनिया के बारे में पता भी होने की ज़रूरत होगी जिसमें वह उस सीमा तक प्रवेश कर सकती है जहाँ तक उसकी 'स्त्री-प्रकृति' पर कोई ख़तरा न हो।'[4]

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत और बीच के दशकों में, जिसे भारत का तथाकथित पुनर्जागरण काल भी कहा जाता है, के समय से राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि में स्त्री-प्रश्न भी सुधारों की शक्ल में उभरा। यह कितना राष्ट्रवाद से जुड़ा था कितना नहीं, किस रूप में रहा और आगे बढ़ा, इसकी वजहें क्या थीं, यह अलग बहस का विषय है लेकिन इतना तो साफ़ ही है कि '... तत्काल आधुनिक और तुरंत ही सुदूर भूत से परम्परा को खींच लाना राष्ट्रवाद का तरीक़ा है।'[5]

फ़िलहाल हमें यहाँ इस 'भीतरी दुनिया' से पाली जाने वाली अपेक्षाओं और शर्तों की थोड़ी पड़ताल करनी है। ग़ौरतलब है कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक एक महिला की ज़िम्मेदारी घर-बच्चे सँभालना तो थी, पर इसमें मुख्य रूप से 'खाना बनाना' ही मानक था। घर और बाहर की ये दुनियाएँ बिल्कुल जुदा थीं। भारत की पहली बंगाली महिला की आत्मकथा *अमार जीबन* की लेखिका राससुंदरी देवी सवर्ण हिंदू ज़मींदार परिवार की बहू थीं। वे अपनी तकलीफ़ों और जीवन-स्थितियों

---

[3] पार्थ चटर्जी (1989) : 313.

[4] वही : 325.

[5] मैत्रेयी चौधरी (2012) : 287.

के बारे में विस्तार से बताती हैं। इस ब्योरे में उनके कामों का ज़िक्र है, पर साफ़-सफ़ाई जैसी अपेक्षाएँ कहीं नहीं हैं :

> मेरा दिन बहुत सुबह शुरू हो जाता और देर रात तक घर के कामों से बिल्कुल फ़ुर्सत नहीं मिलती। मैं एक पल के लिए भी आराम नहीं कर पाती। ... घर में आठ नौकर थे पर वे सब घर के बाहर रहते थे। घर के भीतर के काम के लिए कोई नहीं था। मैं अकेली थी। रिवाज़ के मुताबिक़ मुझे ही घर के सारे काम करने होते और साथ ही बच्चों की देखभाल भी करनी होती। मुझे रात-दिन काम करना होता, बिना एक पल सुस्ताए। यहाँ तक कि मुझे अपनी सेहत के बारे में सोचने को भी समय नहीं मिलता। इतना काम होता कि मैं दोनों समय खाना भी नहीं खा पाती। ... मुझे बहुत सारा खाना बनाना पड़ता, हर वेला में लगभग 12 सेर भात। ... खाने का काम ख़त्म करते-करते लगभग शाम के चार बज जाते।[6]

लेकिन नवजागरण की अवधि में स्त्री-प्रश्न के आते ही मामला घर के सदस्यों के लिए खाना बनाने और वंश बढ़ाने के लिए बच्चे पैदा करने से आगे बढ़ गया। नया एजेंडा यह था कि पढ़ी-लिखी स्त्री अपने घर को ज़्यादा सुव्यवस्थित रख सकती है। इस तरह वह न सिर्फ़ अपने परिवार की, बल्कि देश की बेहतरी में भी योगदान कर सकती है। जैसा कि मैत्रेयी चौधरी ने रेखांकित किया है : 'महिलाओं को अकसर भारतीय राष्ट्र और समाज के प्रतीक के बतौर प्रदर्शित किया गया।'[7]

आज़ादी के बाद कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के साथ यह संदेश गया कि इस नये देश में महिला और पुरुष पूरी तरह बराबर की हैसियत वाले होंगे। शुरुआती सरकारी प्रयास इस दिशा में हुए भी। महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक कल्याण आदि योजना आयोगों के तहत एजेण्डे पर रहे। पर महिलाओं की आर्थिक स्वायत्तता का मुद्दा सिरे से ग़ायब रहा :

> महिलाओं की आय को बढ़ाने के प्रति चिंता के नदारद होने से महिलाओं की आर्थिक ज़रूरत प्राथमिकता में कहीं नीचे रह गयी ... पर शहरी उच्च मध्यवर्ग और मध्यवर्ग को उच्च शिक्षा और रोज़गार के मौक़ों का फ़ायदा मिला ... आज़ादी के बाद इन राजनीतिक-आर्थिक नीतियों से इन वर्गों की महिलाओं में आत्मसंतोष आ गया और उन्होंने परिवार के भीतर कमतर भूमिका स्वीकार करने के पारम्परिक मूल्य के साथ आसानी से समझौता कर लिया।[8]

टीवी पर रोज़-ब-रोज़ प्रसारित हो रहे विज्ञापनों के माध्यम से इस लेख में परिवार के भीतर स्त्री की स्थिति के सूत्र तलाशने की कोशिश की गयी है। आज इक्कीसवीं सदी के इस चरण में तमाम भौतिक ज़रूरतों के मद्देनज़र देश के शहरी मध्यवर्ग की स्थितियाँ काफ़ी बदली हैं। बाज़ार और आर्थिक दबावों के नाते ही सही, अब महिला घर से बाहर दुनिया में निकल रही है, पैसे कमा रही है। सामाजिक बुनावट पर इसका असर पड़ना स्वाभाविक ही है। परिवार की संरचना और व्यवस्था में भी इन बदलावों की आकांक्षा दिख रही है। पर इस आकांक्षा के साथ ही उच्च गुणवत्ता की जीवन-स्थितियों के मानक में भी अभूतपूर्व तब्दीली हुई है। इन बेहतर जीवन-स्थितियों का सीधा ताल्लुक़ घर से होता है और इन्हें सुलभ कराते व्यवस्थित घर की ज़िम्मेदारी के केंद्र में अभी भी मुख्य रूप से महिला ही है।

देश में बाज़ार और मीडिया की ऐतिहासिक छलाँग का आधार देश का मध्यवर्ग है जिसे अस्सी के दशक के बाद से सही मायने में अपना प्रभावी आकार-प्रकार मिला। नयी सदी तक पहुँचते-पहुँचते उसके पास वर्चस्व की सभी ताक़तों के साथ मोल-तोल करने की हैसियत आ गयी। अब तक लम्बे समय से विकास और देश की अवधारणा में केंद्र में देखे जाने वाले गाँव और ग्रामीण पर्दे के पीछे जा चुके थे। ध्यान रहे कि विकास के शुरुआती मॉडल में एक स्तर पर ही सही, पर विकास और समृद्धि की पहचान के लोकप्रिय परिदृश्य में गाँव और बहुसंख्यक ग़रीब जनता विमर्श के केंद्र में थी। तब

---

[6] राससुंदरी देवी (1993) : 196-97.
[7] मैत्रेयी चौधरी (2012) : 284.
[8] नीरा देसाई (2008) : 24-25.

'लाइज़ोल' के सभी विज्ञापनों की भी यह ख़ासियत है : गृहिणी का विज्ञापन के अंत में डॉक्टरों वाला सफ़ेद कोट पहन लेना। ये महिला अनिवार्य रूप से साड़ी-बिंदी करने वाली 'शादीशुदा हिंदू' औरत है और विज्ञापन के अंत में सफ़ेद कोट यह तसदीक़ करने के लिए पहनती दिखती है कि फ़र्श के कीटाणु या स्वास्थ्य संबंधी बातें किसी घरेलू पत्नी की 'टिपिकल' बात भर नहीं है।

तक मध्यवर्ग काफ़ी छोटा था और उसके निजी चुनाव का विकल्प बहुत ज़्यादा नहीं खुल पाया था। लेकिन, भूमण्डलीकृत और उदारतावादी कहे जाने वाले दौर में इस मध्यवर्ग को पहली बार अपनी आवाज़ मिली। बाज़ार की इस नयी परिभाषा में ख़रीदने और मनचाही ख़रीद की आज़ादी 'ज़रूरत' के रास्ते कब 'आदत' में शुमार हो गयी, पता ही नहीं चला। शहरी मध्यवर्गीय हिंदुस्तानी महिला की भूमिका अब महज़ परम्परा को सँभालने और ज़िम्मेदार नागरिक तैयार करने से आगे बढ़ी। बाज़ार ने उसे उसकी ज़िम्मेदारी को और बेहतर तरीक़े से निभाने के नुस्खे सुझाए जिन्हें चुनने के लिए वह स्वतंत्र थी। वह अब घर की बेहतरी के लिए, घर के बाहर से सामान चुनने की क्षमता रखने वाली समझदार महिला के रूप में देखी जाने लगी। उसकी यह नयी भूमिका बाज़ार के काम की साबित ही हुई।

सभी स्थापित सामाजिक संरचनाओं को भी इससे कोई दिक़्क़त नहीं थी। साथ ही इससे तेज़ी से बदल रही भौतिक परिस्थितियों के बरअक्स महिला के छटपटाते आत्म को भी दहलीज़ से बाहर साँस लेने का मौक़ा मिला। बाज़ार ने अपने विज्ञापनों में इसी सीमित महत्त्वाकांक्षा वाली समझदार पारिवारिक महिला से ख़ुद को जोड़ा और उसकी इस नयी स्थिति में मददगार के रूप में उसके घर के सबसे भीतरी कोनों तक जा पहुँचा।

विज्ञापन, धीरे-धीरे उत्पादन और उसकी तमाम गतिकी का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा हो गया— कई बार उत्पादन की शर्तों से भी ज़्यादा। जैसा कि मैत्रेयी चौधरी का मानना है, 'परम्परा इस संदर्भ में उपभोग के लिए मुहरे के बतौर प्रयुक्त हुई।' घर के रख-रखाव और सफ़ाई के प्रति महिला की चाह का बेहद बारीकी से विश्लेषण करते हुए सीमोन कहती हैं :

> घर की साज सज्जा उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। ... चूँकि वह कर्ता नहीं है, किसी परियोजना में नहीं लगी हुई है, अत: बड़े उत्साह से, जो कुछ भी उसके पास है, उसी में मुक्ति खोजने लगती है। अरबों स्त्रियों ने निरंतर संघर्ष किया किंतु गंदगी और धूल पर उन्हें विजय नहीं मिली। स्त्री के

> लिए घर के काम सिसिफ़स का प्रयास बनकर रह जाते हैं ... वह अथक रूप से अमूर्त बुराई के विरुद्ध संघर्ष करती रहती है।[9]

घर-सफ़ाई के विभिन्न प्रोडक्ट अपने उत्पाद के माध्यम से इसी बेहद स्वाभाविक कामना का इस्तेमाल करते हैं और गंदगी हटाने की चाह को 'सनक' तक पहुँचा कर उस कभी न हासिल हो सकने वाली 'स्वर्गीय चमक' की मरीचिका दिखाते हैं।

बाहरी गंदगी के हमले के ख़िलाफ़ घर को तैयार करना

आम मध्यवर्गीय परिवारों की संरचना में बाहरी और भीतरी दो अलग-अलग दुनियाएँ हैं। दोनों के दो अलग-अलग मूल्य हैं; इनका आपस में घालमेल नहीं हो सकता। 'अगर हम बाहर/भीतर के इस विभेद को ठोस रोज़-ब-रोज़ की ज़िंदगी पर लागू करें तो सामाजिक स्पेस का घर और दुनिया के रूप में बँटवारा दिखेगा।'[10] चूँकि इस भीतरी दुनिया की प्रतिनिधि महिला है इसलिए उसकी ज़िम्मेदारी है— इस पवित्र भीतरी दुनिया की पवित्रता को बनाए रखना। साथ ही इसके बाहर जाने को 'मजबूर' पुरुष को वहाँ की तकलीफ़ों को झेलने लायक़ बनाना। विज्ञापन की दुनिया में यह गंदगी तमाम क़िस्म के बैक्टीरिया और प्रदूषण की शक्ल में आती है। औरत अपने 'सुपर एक्टिव' बच्चे और उसकी आदतों को लेकर चिंतित है। ज़ाहिर है वह पति और बच्चे को बाहर जाने से रोक भी नहीं सकती है, क्योंकि यही तो उसके सम्मान का कारण भी है।

पति के मुश्किल भरे काम और दुनिया से संघर्ष करके घर चलाने की मुहिम में जो जीवाणु-बैक्टीरिया के हमले होते हैं, उनसे भिड़ने का इंतज़ाम पत्नी को करना होता है। इस श्रेणी में सबसे पहले जिस विज्ञापन का ध्यान आता है, वह है 'डेटॉल' का। 'माँ माने सिर्फ़ डेटॉल का धुला' की टैगलाइन के साथ हर माँ का भरोसेमंद प्रोडक्ट। ग़ौरतलब है कि माँ की छवि लम्बे समय से निर्विवाद रूप से आत्म-मुक्त या स्व-रहित की है; जिसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। उसका जो कुछ है, अपने बच्चों के लिए है। तमाम विज्ञापनों में स्पष्ट रूप से वह न सिर्फ़ अपने बच्चों की बल्कि पति और घर के बाक़ी सदस्यों की भी माँ के रूप में ही देखभाल करती नज़र आती है। इसके उदाहरण के बतौर घर से जुड़ा कोई भी विज्ञापन देखा जा सकता है। तो ऐसे में माँ से ज़्यादा भरोसेमंद कौन हो सकता है! ध्यान देने लायक़ है कि 'डेटॉल' या 'लाइफबॉय' जैसे साबुनों के विज्ञापनों में वह ख़ुद शायद ही कभी कीटाणु हटाने वाले इन प्रोडक्ट्स से नहाती या हाथ धोते दिखती है। महिलाओं के चेहरे, बालों और शरीर को साफ़ करने वाले प्रोडक्ट्स और उनके विज्ञापनों में स्वास्थ्य का पहलू आम तौर पर नहीं दिखता। बल्कि इनका प्रस्तुतीकरण काम्य होने की कसौटी पूरी करने वाला होता है जो रंग-रूप-सुगंध-ताज़गी की ज़रूरत को पूरा कर सके। फ़ेस-वाश, साबुन से लेकर सैनिटरी नैपकिन तक महिलाओं के सफ़ाई संबंधी अधिकतर उत्पादों का पैकेट गुलाबी, सफ़ेद या दूसरे कोमल रंग के चिकने से फूलों की गंध वाले होते हैं जबकि कीटाणु-जीवाणु हटाने के पदार्थ के साथ तेज़ गंध की अवधारणा है (जैसे डेटॉल जैसे साबुन)।

इस तरह गंदगी की अवधारणा भी अलग-अलग तरह से सम्बोधित होती दिखती है। पुरुषों, लड़कों और बेटों की गंदगी और पसीना उनके दुनिया में फ़िट होने और उससे भिड़ने की निशानी बन जाती है। इसे कुछ देर के लिए ही सही, पर हटाने की कोशिश करना घर की महिला की ज़िम्मेदारी है। इसके मुक़ाबले महिलाओं का बिना पसीना, बिना दुर्गंध या गंदगी का होना उनकी अलग और स्थिर दुनिया की झलक है। इस बाहरी दुनिया से उसके ख़ुद के संबंध की शर्तें सुंदरता, सौम्यता, चमक

---

[9] सिमोन द बोउवार (2002) : 205, 213.

[10] पार्थ चटर्जी (1989) : 313.

और ख़ुशबू हैं। इस तरह अब तक की अनजानी दुनिया में उसके होने का प्राथमिक माध्यम तो पति ही है, पर पति की दुनियावी छवि में भूमिका के कारण उसके साथ ख़ुद को सक्रिय एजेंट के बतौर महसूस करने का पहलू जुड़ जाता है।

महज़ गृहिणी नहीं, 'एक्सपर्ट' गृहिणी

पीछे हमने देखा कि नवजागरण काल में ख़ास तरह की स्त्री-शिक्षा को महिला के लिए घर सँभालने की ज़िम्मेदारी का अनिवार्य पहलू माना गया। यह अनायास ही नहीं है कि अब भी 'होम साइंस' और 'कुकिंग' हिंदी पट्टी के सरकारी स्कूलों में कला वर्ग की हाई स्कूल-इंटरमीडिएट की लड़कियों के लिए महत्त्वपूर्ण विषय होता है। इसे चुनने पर घरवालों का बहुत सहयोग मिलता है। जब होम साइंस की किताबों में अलग-अलग तरह की चोट के लिए अलग-अलग क़िस्म की पट्टियाँ बाँधना या फिर घर की साफ़-सफ़ाई के 'वैज्ञानिक' नियम बताए जाते हैं तो उनका उद्देश्य भी 'एक्सपर्ट' गृहिणियाँ तैयार करना ही होता है। इसी तरह विज्ञापन की महिला को घर और परिवार की बेहतरी सोचते वक़्त सिर्फ़ यह ध्यान नहीं होता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है, बल्कि यह भी पता होता है कि क्या 'सबसे अच्छा' है। डेटॉल साबुन के विज्ञापन में ही बॉलीवुड की एक अदाकारा, जिन्हें अपने अभिनय के अलावा पति-बच्चों के साथ भरी-पूरी 'व्यवस्थित' ज़िंदगी के लिए भी जाना जाता है, बताती हैं कि 'बच्चे के पेट में दर्द है; इसका मतलब यह नहीं कि वह लड्डू खाने से हो रहा है क्योंकि लड्डू तो उन्होंने 'ख़ुद' बनाए हैं बल्कि वह बच्चे के हाथों में लगे बाहर के कीटाणु से हो रहा है'। और, रोचक है कि यह 'कीटाणु' वाला हिस्सा समझाते हुए उन्होंने डॉक्टर वाला सफ़ेद कोट भी पहना हुआ है। अब एक सुपरिचित फ़िल्मी अदाकारा को भला डॉक्टरों का कोट क्यों पहनाया जाता है? निश्चित रूप से कही जा रही बात में प्रामाणिकता का पुट डालने, या फिर 'एक्सपर्ट गृहिणी की बात डॉक्टर जैसी ही सही है' जैसे ही किसी प्रभाव के लिए।

इसी तरह घर के फ़र्श को कीटाणु मुक्त करने के लिए इस्तेमाल होने वाला एक प्रोडक्ट 'लाइज़ोल' अपनी टैगलाइन देता है 'आदत स्वस्थ घर की'। 'लाइज़ोल' के सभी विज्ञापनों की यह ख़ासियत है : गृहिणी का विज्ञापन के अंत में डॉक्टरों वाला सफ़ेद कोट पहन लेना। ये महिला अनिवार्य रूप से साड़ी-बिंदी करने वाली 'शादीशुदा हिंदू' औरत है और विज्ञापन के अंत में सफ़ेद कोट यह तसदीक़ करने के लिए पहनती दिखती है कि फ़र्श के कीटाणु या स्वास्थ्य संबंधी बातें किसी घरेलू पत्नी की 'टिपिकल' बात भर नहीं है। 'विशेषज्ञ की भूमिका, दोतरफ़ा तरीक़े से भावात्मक काम करती है : (1) घरेलू महिला को एक हैसियत हासिल करने में मदद करती है, और (2) काम को नये और बेहतर तरीक़े से करने की अपनी खोज में वह अपने घर की परिसीमा से बाहर निकल आधुनिक विज्ञान की दुनिया में पहुँच जाती है'। ... 'जब वह 'ऑल पर्पज़ क्लीनर' की जगह कपड़ों के लिए अलग, बर्तनों के लिए अलग, दीवारों के लिए अलग, ज़मीन के लिए सफ़ाई के अलग-अलग प्रोडक्ट का इस्तेमाल करती है तब वह ख़ुद को अकुशल मजदूर के बतौर कम, एक इंजीनियर या एक विशेषज्ञ के बतौर ज़्यादा महसूस करती है'।[11]

ऐसे में प्रोडक्ट-विशेष की ख़रीद ही इस आत्मविश्वास के लिए काफ़ी है कि अपने घर के लिए सही चीज़ें बाज़ार से चुनना और ख़रीदना अपने आप में एक कुशलता भरा काम है। मध्यवर्ग की तमाम तरह की असुरक्षाओं के बीच कुशलता का यह एहसास उसमें एक तरह का विश्वास भरता है जो उसे लगातार प्रासंगिक होने का एहसास कराता है। बेट्टी फ्रीडन इस बात को बहुत बेहतर तरीक़े से चिह्नित करती हैं : 'ख़ास काम के लिए ख़ास प्रोडक्ट इस्तेमाल करना घरेलू महिला का अपने घर को

[11] बेट्टी फ्रीडन (1963) : 206.

साफ़-सुथरा रखने वाली के बतौर अपने सम्मान में भी बढ़ोतरी का एक तरीक़ा है ...'।[12] हमारे समाज में शहरी मध्यवर्गीय महिला की भूमिका का यह एक नया आयाम है। उसे अपने पिछले दौर की औरतों से बेहतर होना है, वह उनकी तरह ग्रामीण, अशिक्षित, पिछड़ी नहीं है और इसे साबित करने के लिए उसमें इन सलाहियतों का होना ज़रूरी है! उसकी इस नयी हैसियत के नये मानक गढ़ने में विज्ञापन भी बख़ूबी भूमिका अदा कर रहे हैं।

दुनिया में परिवार की इज़्ज़त का ज़िम्मा

उसे अपने परिवार को सिर्फ़ बाहरी दुनिया से लड़ सकने लायक़ नहीं बनाना है, बल्कि उस दुनिया में इज़्ज़त का दारोमदार भी उसी पर है। कपड़े मध्यवर्गीय परिवार में महज़ शरीर ढकने के नहीं, बल्कि आपके वर्ग-हैसियत-मान मर्यादा के भी प्रतीक हैं। 'कॉलर उठाना' इसी इज़्ज़त की निशानी है और चूँकि 'दाग़ सिर्फ़ कपड़ों पर नहीं इज़्ज़त पर लगता है' तो इन दाग़ों से दो-दो हाथ करने की ज़िम्मेदारी उसी महिला की है। निरमा, सर्फ़, रिन— किसी भी डिटर्जेंट का नाम ध्यान में लाइए, कुछ बातें उनमें बिल्कुल एक जैसी दिखेंगी— जैसे कपड़ों की सफ़ाई तो घर में होती है पर उसका मूल्य बाहर तय होता है। फिर चाहे वह पति का दफ़्तर हो या बच्चे का स्कूल। 'दाग़-गंदगी' भी बाहरी दुनिया की बुराइयों के प्रतीक हैं जिसे घर की दुनिया की पहरेदार महिला को साफ़ कर दूर भगाना है।

अगर कपड़ों पर लगे दाग़, उसकी पहचान में इतने बड़े रोड़े हैं तो टॉयलेट की सीट का पीला धब्बा तो उसे आत्मग्लानि के समंदर में डुबोने को काफ़ी है। इस पीले धब्बे से निजात के लिए एक 'सेल्समैन' (उसके कपड़ों और सिर पर लगी कैप से पहचान) उसे सलाह देता है इस पीलेपन को हटाने के लिए 'हार्पिक' नाम के क्लीनर को इस्तेमाल करने की, जो कि फिर एक बार एक्सपर्ट की पसंद है। एक रोचक बात यह है कि ज़्यादातर विज्ञापनों में महिला ही टॉयलेट की ख़ुद से सफ़ाई करती दिखती है, और सिवाय उस सेल्समैन के (हार्पिक) कभी कोई पुरुष किसी भी टॉयलेट साफ़ करने के विज्ञापन में नहीं दिखाई देता। सम्भवत: यह भारतीय घर का वह हिस्सा है जिसकी तारीफ़ के लिए भी घर के पुरुषों का दिखाना संस्कृति और मर्यादा की गरिमा को हल्का करना है। इसके अलावा इसी श्रेणी के बाथरूम की दुर्गंध के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले 'ओडोनिल' जैसे उत्पादों के विज्ञापनों में भी 'ओडोनिल' न होने के नाते आती दुर्गंध को घर की महिला की क़ाबिलियत पर प्रश्नचिह्न के बतौर मानने वाली भी महिला ही दिखती है।

महज़ इतना ही नहीं कई विज्ञापन तो महिला की सफ़ाई केंद्रित असंतुष्टि को, उन्हीं की अगली महिला पीढ़ी को बेहतर दिखा कर बढ़ाते नज़र आते हैं; जैसे : 'पेप्सोडेंट' टूथपेस्ट के विज्ञापन में दिखाया गया है कि बच्चा दाँत साफ़ करना नहीं चाह रहा है, माँ परेशान है, तो उसे उसी की किशोर बेटी सलाह दे रही है कि 'प्रॉब्लम पेस्ट के स्वाद में है, इसलिए पेस्ट बदलने की ज़रूरत है'। मतलब भविष्य की माँ अपनी वर्तमान माँ को बच्चों की पसंद-नापसंद और सफ़ाई के नये उत्पाद का पता बता रही है जिसे उसकी माँ पिछले ज़माने की होने के नाते ख़ुद से समझने में नाकाम है।

नये मूल्य, नये संबंध

मध्यवर्गीय इज़्ज़तदार सामाजिकता के मानकों में अंतर के साथ महिला से घर की सफ़ाई संबंधी ज़िम्मेदारियाँ पूरी करने की शर्तों और अपेक्षाओं में भी अंतर आया है। उदाहरण के लिए आज की शहरी मध्यवर्गीय सुसंस्कृत महिला से समाज और व्यवस्था की अपेक्षा है कि वह महज़ अपने बच्चों के कपड़े साफ़ नहीं रखेगी बल्कि उनमें मानवीय मूल्य भी रोपेगी। डिटर्जेंट के विज्ञापनों में 'सर्फ़

---

[12] वही.

ज़्यादातर विज्ञापनों में महिला ही टॉयलेट की ख़ुद से सफ़ाई करती दिखती है, और सिवाय उस सेल्समैन के (हार्पिक) कभी कोई पुरुष किसी भी टॉयलेट साफ़ करने के विज्ञापन में नहीं दिखाई देता। सम्भवतः यह भारतीय घर का वह हिस्सा है जिसकी तारीफ़ के लिए भी घर के पुरुषों का दिखाना संस्कृति और मर्यादा की गरिमा को हल्का करना है।

एक्सेल' के विज्ञापन पिछले कई सालों से अपने सामाजिक मूल्यों पर ज़ोर के चलते याद रखे जाते रहे हैं। इसमें कहा जा रहा है कि 'अगर दाग़ लगने से कुछ अच्छा होता है, तो दाग़ अच्छे हैं।' इसमें आम तौर पर किसी कुत्ते के बच्चे को बचाने के लिए, मुहल्ला साफ़ करने के लिए, किसी टीचर/दोस्त को खुश करने के लिए बच्चों को धूल-मिट्टी में लोटते हुए दिखाया गया है और कहा जा रहा है कि अगर किन्हीं बड़े कारण या उद्देश्य के लिए बच्चों (यहाँ लगभग सभी विज्ञापनों में धूल में लोटते बच्चे, लड़के हैं) के कपड़ों में दाग़ लग रहे हैं 'तो लगने दें क्योंकि सफ़ाई के लिए हम हैं'। इस तरह ये विज्ञापन देश समाज के लिए 'संवेदनशील नागरिक' तैयार करने की ज़िम्मेदारी इस 'माँ' के हवाले कर रहे हैं।

इस नये समय में जब हमारे यहाँ भी महिला बाज़ार की श्रम-शक्ति का बड़ा हिस्सा बन रही है और सिर्फ़ गरीब ही नहीं बल्कि मध्यवर्गीय महिलाएँ भी बड़ी संख्या में घरों से बाहर तमाम कारणों से आ रही हैं, तो इस श्रेणी के विज्ञापनों में थोड़ा दिलचस्प बदलाव दिखता है। इसमें तथाकथित नये जमाने के मूल्य शामिल किये गये हैं, जैसे 'एरियल' का विज्ञापन, जिसमें कहा जा रहा है कि 'व्हाई इज़ लॉन्ड्री ऑनली अ मदर्स जॉब ?'— 'एरियल मैटिक' का विज्ञापन कहता है कि 'पुरुष और कुछ नहीं तो कम से कम एरियल जैसे कपड़े धोने के पाउडर की मदद से कपड़े धोने में तो पत्नी की मदद कर ही सकता है।' इसी तरह आज भी सबसे ज़्यादा बिकने वाले डिटर्जेंट 'निरमा' का नया प्रोडक्ट 'निरमा एडवांस' के विज्ञापन को देखा जा सकता है। इसके विज्ञापन में हिंदी सिनेमा के स्टार ऋतिक रोशन को एक बच्चे के साथ डांस करते-करते दाग़ निकालते दिखाया गया है और इस विज्ञापन में किसी महिला की पूर्वकल्पित भूमिका की परिकल्पना नहीं है। वह दिख रही है तो बस परम्परागत फ्रेम को पूरा करने के लिए।

कपड़े धोने के डिटर्जेंट के विज्ञापनों की एक और श्रेणी है जिसमें लगभग सभी अन्य डिटर्जेंट शामिल किये जा सकते हैं। इनमें भी 'रिन' अपने विज्ञापन में आधुनिक मूल्यों के तहत निम्न-मध्यवर्ग की लड़की को दिखाता है जिसने अभी-अभी पैसे/सफलता वाली दुनिया में क़दम रखा है और यहाँ

उसके मददगार एकमात्र उसके चमकते कपड़े हैं जिसकी वजह से वह विश्वास से लबरेज़ है। उसकी माली हालत उसके विश्वास को डगमगाने नहीं देती। और पीछे से स्वर आता है 'आपकी चमक ही आपकी पहचान है।' यह पाउडर इस घर के बाहर इस अतिरिक्त काम में उसकी मदद के लिए खड़े होने की गारंटी कर रहा है। महिला को घर के बाहर पति के लगभग बराबर पैसे कमाते भी दिखाया जा रहा है जिसके लिए उसे घर और बाहर दोनों सँभालना मुश्किल हो रहा है। विज्ञापन 'घर के पुरुषों को साथ देने का संदेश' तो दे रहे हैं, पर ग़ौरतलब है कि अभी भी महिला की बाहर की हैसियत के लिए 'उसका चमकते (रिन) रहना' सबसे बड़ा 'मानक' है।

इसी तरह 'प्रिल' (बर्तन साफ़ करने का लिक्विड साबुन) के विज्ञापन की टैगलाइन कहती है, 'बर्तन चमकें और रिश्ते भी'। रसोई और बर्तनों की सफ़ाई की दुनिया में यह एक नया विमर्श है। यहाँ नये ज़माने का शहरी युवा जोड़ा है, दोनों कमाते हैं और वह भी बराबर का; थोड़ी लोकतांत्रिक जगह भी निकल रही है। बीवी अपने पति के यह कहने पर कि 'हम पति-पत्नी हैं तो हमें कुछ तो साथ-साथ करना चाहिए' के जवाब में अपने पति से जो कि साथ-साथ दोस्त जैसा भी है, कह सकती है कि 'चलो साथ में बर्तन घिसते हैं'। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि बर्तनों की चमक के साथ महिला की सामाजिक हैसियत के सनातन रिश्ते में कोई अंतर आया हो। 'बर्तन ऐसे चमकें कि उसमें महिला का हँसता मुस्कुराता चेहरा नज़र आये'— अब भी कैमरे का सबसे पसंदीदा शॉट है।

सफ़ाई संबंधी विज्ञापनों का वर्गीय आयाम

इन विज्ञापनों की वर्गीय-स्थिति भी ग़ौरतलब है। अगर डिटर्जेंट पाउडर की ही बात करें तो इनके विज्ञापन की विषय-वस्तु में इनकी क़ीमत, इनका रंग, इनकी नफ़ासत और ख़रीदने वाला आयवर्ग व सामाजिक संबंधों की उसकी ज़रूरतें भी एक रोचक पहलू पेश करते हैं। आम तौर पर थोड़े कम दाम के और थोड़े पीलापन लिए हुए रंग के डिटर्जेंट पाउडरों के विज्ञापनों में अभी भी साड़ी पहनने वाली घरेलू महिला दिखती है। इस महिला के लिए बचत, पति की इज़्ज़त और पति को उसके पास खींचने वाली पाउडर की ख़ुशबू जैसे पहलू महत्त्वपूर्ण होते हैं। वहीं नीले या अन्य रंगों के खूबसूरत कणों वाले, जो ज़्यादा तरोताज़ा होने-दिखने की निशानी होते हैं, के महँगे पाउडरों के विज्ञापनों में आम तौर पर पति-पत्नी के रिश्ते अधिक आधुनिक दिखाए जाते हैं। महिला आधुनिक पश्चिमी कपड़ों में होती है और नौकरीशुदा और बड़ी तनख़्वाह पाने वाली दिखती है। इस उच्च-मध्यवर्ग के लिए बच्चे को पर्यावरण और सामाजिक ज़िम्मेदारी (पूँजीवादी मॉडल के) संबंधी जागरूकता, पुरुषों की घर में भी हाथ बँटाने की ज़रूरत जैसे जेण्डर-बराबरी के मूल्य, पाउडर की क़ीमत से कहीं ज़्यादा महत्त्व के पहलू बताए जाते हैं। जबकि 'पहले इस्तेमाल करें फिर विश्वास करें' (घड़ी), 'सफ़ाई वही जो महके' (व्हील), 'चमकते रहना' और 'आपकी चमक ही आपकी पहचान है' (रिन) जैसे डिटर्जेंट्स के विज्ञापन पुरानी परिपाटी के ही हैं, जिसमें आमतौर पर निम्न-मध्यवर्गीय शहरी या छोटे शहर के परिवार हैं।

बर्तनों की सफ़ाई के लगभग सारे ही विज्ञापन 'थोड़े में ज़्यादा सफ़ाई' का वायदा करते हैं, वह भी 'चिकनाई रहित, चमचमाते बर्तनों के साथ'। 'प्रिल' के अपवाद को छोड़ कर लगभग सभी में थोड़ी कम आय वर्ग वाले घर दिखते हैं, जिनमें महँगे चीनी मिट्टी या शीशे के बर्तन नहीं बल्कि एल्युमिनियम या स्टील के बर्तन होते हैं। गृहिणी आम तौर पर रसोई में अकेली होती है जहाँ ये उत्पाद उसके मददगार के तौर पर पेश किये जाते हैं।

इसी तरह जब 'लाइज़ोल' या 'डोमेक्स' जैसे फ़र्श-सफ़ाई के उत्पादों के विज्ञापन दिखते हैं तो उन घरों की फ़र्श के टाइल, साज-सज्जा उनकी वर्गीय स्थिति बता देती है। हक़ीक़त है कि

भारत के अमूमन शहरी मध्यवर्गीय घरों में फ़र्श की साफ़-सफ़ाई का ज़िम्मा घर में काम करने वाली बाइयों पर ही है। शायद इसलिए इसमें वैसे आधुनिक विमर्श की ज़रूरत नहीं पड़ी जैसा अन्य उत्पादों में दिखता है। जो महिला स्क्रीन पर दिखाई जा रही है शायद इसी तर्क के तहत कहीं भी ख़ुद से सफ़ाई करती दिखाई भी नहीं देती। हाँ, फ़र्श की सफ़ाई की 'चिंता' उसका काम ज़रूर है। इस तरह सफ़ाई की आदतों, उद्देश्यों और वर्ग-स्थिति के विषय में ये विज्ञापन बेहद स्पष्ट हैं।

परिवार की हिफ़ाज़त या रक्षक की भूमिका

गृहिणी घर के पुरुषों को बाहर की गंदगी से लड़ने के लिए तैयार ही नहीं करती बल्कि उस गंदगी को घर के भीतर आने से रोकने के लिए 'रक्षक' की भूमिका में भी होती है। 'आल आउट', 'गुड-नाइट' और 'हिट' श्रेणी के उत्पादों के विज्ञापनों से यह बात स्पष्ट है। 'सतर्क माँ की तरह आल आउट कभी नहीं सोता' (आल आउट का विज्ञापन)। सबसे ज़्यादा आक्रामक रूप में महिला तब दिखती है जब कि वह 'हिट' से किचन में छिपे तिलचट्टों का सफ़ाया कर रही हो। 'बीमारी कॉकरोचों ने फैलाई और उँगली उठी आप पर'— (हिट का विज्ञापन)। इस विज्ञापन में अप्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि मलेरिया, टाइफ़ाइड, फ़ूड पॉयज़निंग जैसी बीमारी के लिए मच्छरों और तिलचट्टों के साथ-साथ महिला को भी प्रत्यक्ष तौर पर बराबर का ज़िम्मेदार बताया जा रहा है जिसकी लापरवाही से बच्चे को बीमारी हुई। 'इससे ज़्यादा शर्म की बात क्या होगी कि घर, वह भी किचन की गंदगी की वजह से घर के सदस्यों को, वह भी बच्चे को बीमारी हो'? आख़िर घर के लिए प्राथमिक और पूरी तरह से ज़िम्मेदार महिला से ऐसी लापरवाही कैसे हो सकती है? अगर आप अपने बच्चों, वह भी ख़ासकर किशोर/युवा लड़की की माँ हैं, की हिफ़ाज़त चाहती हैं तो आप. 'कभी नहीं सोएँगी, हमेशा सतर्क रहेंगी, वरना आप पर उँगली उठेगी ही'। बेट्टी फ्रीडन महिला की इस भूमिका को 'परिवार के रक्षक के बतौर न्यायसंगत ठहराने वाली बताती हैं, क्योंकि वह लाखों कीटाणुओं और जीवाणुओं को मारने वाली है।'

साफ़ है कि इस तरह घर और परिवार से जुड़ी हर क़िस्म की गंदगी और उसकी सफ़ाई के केंद्र में महिला है। उसका ज़िम्मा है कि इस तरह की बाहरी-भीतरी किसी भी क़िस्म की गंदगी का ख़ुद पर और अपने परिवार पर साया भी न पड़ने दे। 'गृहलक्ष्मी' या 'गृहशोभा' की उपाधि के लिए यह नयी शर्त है। यही उसका 'कर्मक्षेत्र-अधिकार क्षेत्र' है। फ्रीडन के मुताबिक़ 'छिपी हुई गंदगी होने पर अपराध-बोध' तो वह 'गहरी-सफ़ाई के अभियान में आत्मशांति पाने तक' अपने घर की लेशमात्र जगह भी नहीं छोड़ेगी जो उसे कुछ हफ़्तों के लिए 'पूर्ण होने का एहसास' देगा।'(घर की सम्पूर्ण सफ़ाई का समय ही वह बिंदु होता है जब वह नया उत्पाद इस्तेमाल करना चाहती है और 'गहरी सफ़ाई' के विज्ञापन इसे पूरा करने का वायदा करते हैं')।[13]

लेकिन घर और उसकी तमाम तरह की सफ़ाई की इतनी मजबूत अवधारणा के बावजूद हमारे देश में घर की सफ़ाई के उपकरणों का बेहद कम होना ध्यान खींचता है। अगर टीवी पर प्रसारित होने वाले विज्ञापनों की पूरी रेंज देखें तो सही मायने में महिला को थोड़ा आराम देने वाला उत्पाद केवल वाशिंग मशीन ही है। हालाँकि बीच में यूरेका फ़ोर्ब्स जैसी कम्पनियों के 'वैक्यूम क्लीनर' जैसे उत्पाद भी आये पर प्रचलित नहीं हो पाए। दूसरे देशों में घर-बगीचे से लेकर बर्तनों की सफ़ाई तक के लिए तमाम तरह की मशीनें हैं पर भारत के इतने सम्भावनाशील बाज़ार के बावजूद यहाँ इनकी ज़रूरत क्यों नहीं पड़ी? इसका एक बड़ा कारण हमारे देश में अभी भी घरेलू श्रम का सस्ता होना है। अधिकतर मध्यवर्गीय शहरी घर कम से कम सफ़ाई के मामले में काम वाली बाइयों पर निर्भर हैं। निश्चित रूप से इस पहलू पर अलग से अध्ययन होना चाहिए। अगर इस तबक़े को नियमित तौर पर सफ़ाई के

---

[13] वही : 208.

काम में लगने की ज़रूरत नहीं है तो बाज़ार आधुनिक सफ़ाई उपकरण किसके लिए लाएगा? सफ़ाई के डिटर्जेंट्स और रसायनों का घरेलू मदद के तौर पर काम कर रही 'पिछड़ी, निचले तबक़े की अशिक्षित' महिला के माध्यम से इस्तेमाल कराना या कहें अपने राज्य की व्यवस्था बनाए रखने के लिए किसी और को निर्देश दे सकने की ताक़त 'आधुनिक, मध्यवर्गीय, शिक्षित' महिला को कई तरीक़े की संतुष्टि देता है— कई ग्लानियों से छुटकारा दिला देता है।

इस तरह अंतर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ भारतीय परिवार/समाज के साथ बेहद सामंजस्यपूर्ण और लचीले सौदे में जाते हुए घर और महिला के नये मानक क़ायम कर रही हैं। ये मानक उनकी पिछली पीढ़ियों से अलग हैं। ये 'मानक' महिला को अपने आत्म को लाँघने की जो राह सुझा रहे हैं वह वही चक्करदार रास्ता है जिसकी जादुई संतुष्टि की समयावधि दिन के चौबीस घंटे की है। यह तय है कि उसे पाने के लिए वह हर रोज़ उसी चक्करदार रास्ते पर जाएगी और संतुष्टि की तलाश में चिंता के अनंत सागर में समा जाएगी। 'सफ़ाई की सनक' को 'मानक' बनाते ये उत्पाद और इनके विज्ञापन भारत की इस नयी महिला की अनुभवातीत होने की चाह को बेहद चतुराई के साथ एक अंधे घेरे की ओर धकेल रहे हैं, जहाँ स्मृतियाँ तक उसके साथ नहीं हैं। वह अपने पिछले दौर की अपनी ही घरों की औरतों से बेहतर है, यह एहसास बोझ की तरह उस पर तारी है। वह अपनी माँ, दादी-नानी की तरह गाँव में नहीं है, अशिक्षित नहीं है, पिछड़े सामंती तौर-तरीक़ों की गिरफ़्त में सीधे तौर पर नहीं है। बल्कि 'आधुनिक', शहरी, कमाने लायक़ शिक्षित है। एक तरह से वह पहली पीढ़ी की नुमाइंदगी कर रही है जिसने अपने दरवाज़े बाज़ार के लिए पूरी तरह खोले हुए हैं। और, अब पूरी आस्था के साथ उसे अपनी उलझन का साथी मान उसके दिखाए रास्ते पर बढ़ रही है। इस मायने में उसकी गुत्थी सिमोन की 'शादीशुदा महिला' से ज़्यादा उलझी हुई है; वह अपने 'पिछड़ेपन' का बोझ उतार फेंकने को बेचैन है। अपने अतीत और इतिहास से पीछा छुड़ाती, परिवार के रास्ते 'राष्ट्र' बनाने के अदृश्य अभियान का बोझ लिए, साथ ही इसमें जूनियर पार्टनर की भूमिका से असंतुष्ट, संस्कृति की नवीनतम पिछड़ी परिभाषाओं से समझौते करती, सामाजिक संरचना के क्रूरतम श्रेणीक्रम को अनजाने में ही मज़बूत करती, साथ ही अपने बिखरे आत्म को समेटने की नाकाम कोशिश करती यह औरत बर्तन, फ़र्श, कपड़ों और चेहरे की चमक और सफ़ेदी के सहारे अपने भीतर के काले अँधेरे से बाहर निकलने की कभी न ख़त्म होने वाली कोशिश में ख़ुद को होम कर रही है। गहरे अनंत अँधेरे में अकेले इस रास्ते पर चलते हुए वह 'अनाम बीमारी'[14] से कितनी दूर है, यह कहना मुश्किल है।

संदर्भ

अंतोनियो ग्राम्शी (1971/1999), 'स्ट्रक्चर ऐंड सुपरस्ट्रक्चर', *प्रिज़न नोटबुक,* एलेक बुक, लंदन.

नीरा देसाई (2008), 'फ़्रॉम अकॉमोडेशन टू आर्टिकुलेशन : वुमंस मूवमेंट इन इण्डिया', मेरी ई. जॉन (सं.), *वुमंस स्टडीज़ इन इण्डिया : अ रीडर,* पेंगुइन, नयी दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (1989), 'द नैशनलिस्ट रिज़ोल्यूशन ऑफ़ द वुमंस क्वेश्चन', कुमकुम संगारी और सुरेश वैद्य (सं.), *रिकास्टिंग वुमॅन, एस्सेज़ इन कोलोनियल हिस्ट्री,* काली फ़ॉर वुमॅन, नयी दिल्ली.

बेट्टी फ्रीडन (1963), *द फ़ेमिनिन मिस्टीक,* डब्ल्यू.डब्ल्यू. नॉर्टन ऐंड कम्पनी, न्युयॉर्क.

मैत्रेयी चौधरी (2012), 'मॉर्डनिटी ऐंड ट्रेडीशन : अ जेण्डर एनैलिसिस', *पोलिश सोसियोलॅजी रिव्यू,* अंक 178.

राससुंदरी देवी (1993), 'अमार जीबन', सूज़ी थारू और के. ललिता (सं.), *वुमॅन राइटिंग्ज़ इन इण्डिया,* भाग 1, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सिमोन द बोउवार (2002), *स्त्री : उपेक्षिता,* (अनु.) प्रभा खेतान, हिंद पॉकेट बुक, दिल्ली.

---

[14] वही : 226.
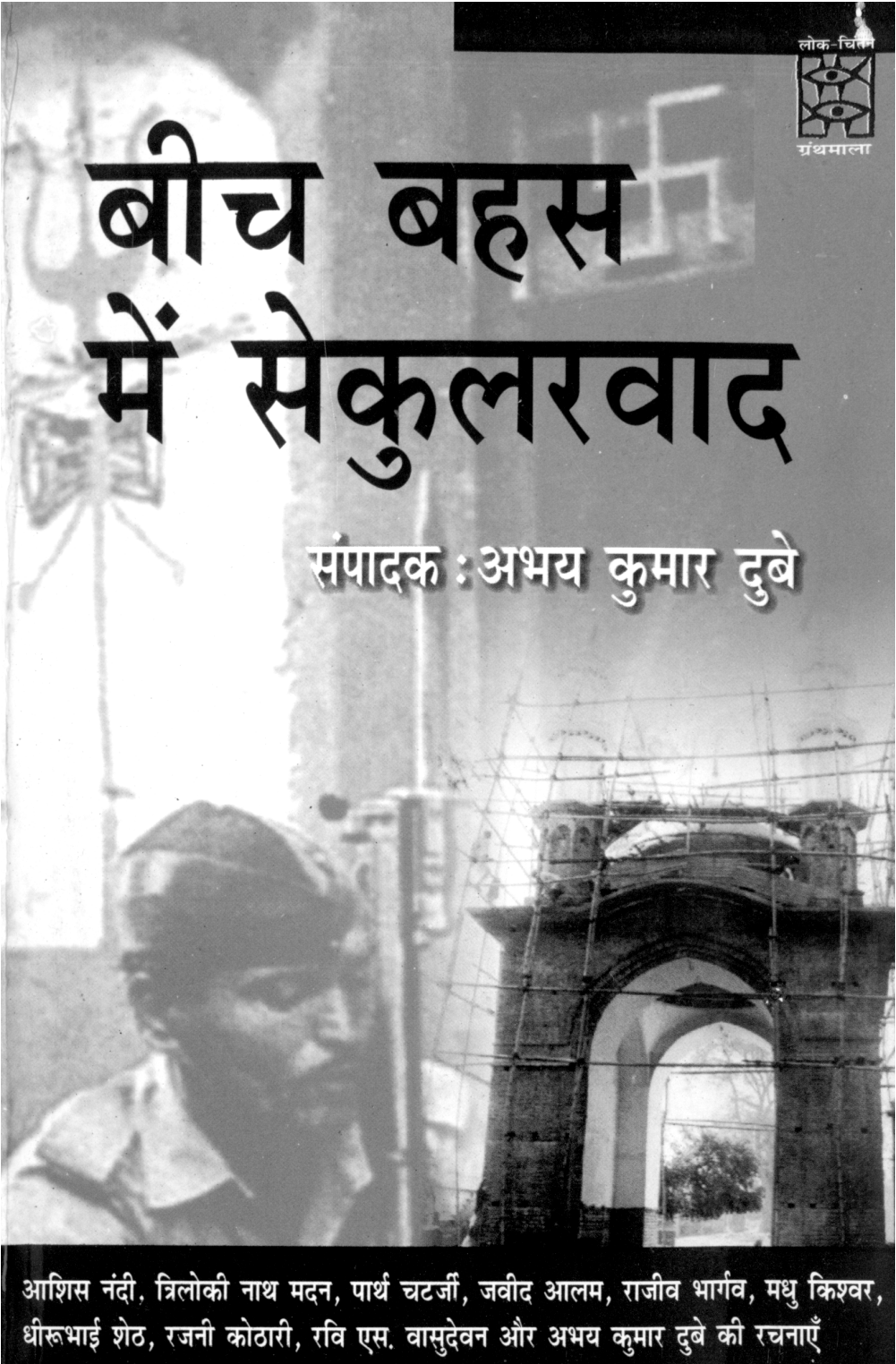
आशिस नंदी, त्रिलोकी नाथ मदन, पार्थ चटर्जी, जवीद आलम, राजीव भार्गव, मधु किश्वर, धीरूभाई शेठ, रजनी कोठारी, रवि एस. वासुदेवन और अभय कुमार दुबे की रचनाएँ